



मीडिया और संस्कृति

डॉ० पार्वती जे० गोसाईं

आसि. प्रोफेसर, हिन्दी स्नातकोत्तर विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर, आणंद, गुजरात, भारत

प्रस्तावना

“जो आसान है वह खूबसूरत नहीं होता
जो खूबसूरत है वह आसान नहीं होता
जो सहज दिख सकता है सरल नहीं होता
जटिल से जटिल जब सहज-सरल होकर आता है,
ज्यादा खूबसूरत हो जाता है
ज्यादा विस्मयकारी। ज्यादा रहस्यमयी।”^१

आज जब सारा विश्व सीमट गया है, 'मुट्टि में कैद' हो गया है तब सब कुछ सरल व सहज लगने लगा है। भूमण्डलीकरण ने जिस तरह का बाजारवाद व उपभोक्तावादी समाज व मानसिकता को जन्म दिया उसमें भौतिक सुख सविधाएँ तो बढ़ी ही हैं, सिर्फ मन संकुचित हो गए हैं। सबको 'एक आइडिया जो बदल दे दुनिया' या 'कर लो दुनिया मुट्टि में' के खूशकहमी के सपने आने लगे हैं, सब अपनी जिन्दगी को तत्क्षण 'जीओ जी भर' के की अल्ट्रामोडर्न फोर्मूला पर जी रहे हैं। ऐसे में संस्कृति की बात उनको विस्मयकारी या रहस्यमयी ही लगेगी। आज मीडिया छाया ने मनुष्य के तन-मन व धन पर अपना एकाधिकार कर लिया है। शायद इसीलिए अब हमारी भावनाएँ व संवेदनाएँ भी स्क्रीन का मात्र सीन बनकर रह गई हैं जिसे या तो लाईक डिस्लाइक किया जाता है या फिर डिलेट-फोर्वाड किया जाता है। उसे जीया नहीं जा सकता। मीडिया के इस ग्लोबलीकरण में हम अपना उदगम और मंजील ही भूल गए हैं, बाकी सब याद है। विकास व प्रसिद्धि की अंधी दौर में बहुत सी ऐसी चीजें काफी पीछे छूट गई हैं जो हमें एक स्वच्छ इन्सान होने का प्रमाण देती हैं। इस तरह की कमियों को भरने का न अब हमारे पास उपाय है न समय। पूरा मानव समुदाय आज मीडिया के नियंत्रण में कैद है। संस्कृति नाम को मीडिया के साथ जोड़कर देखना ही, लोहे के चने चबाना है। ऐसे में अब एक प्रबुद्ध नागरिक होने के नाते हमारा यह नैतिक फर्ज बनता है कि मीडिया के इन तमाम पक्षों पर आकलन कर संजीदगी व तटस्थता से इसकी सामाजिक प्रतिबद्धता की परख की जाये, समाज व संस्कृति से जुड़े तमाम मुद्दों को लेकर मीडिया में स्पष्टता की जाये, स्वच्छता की जाये। अतः निर्मांकित कुछ बिंदुओं के तहत मीडिया और संस्कृति के विचार को रखा जा सकता है। क्योंकि चाहें कितनी भी विरुद्ध हवा बह रही हो नाविक अगर गंतव्य पर दृढ़ है तो पतवार को अपनी पूरी शक्ति से खींचे ही रहेगा। गलत से गलत वक्त में भी सही से सही बात कही जा सकती है। लीलाधर जगूडी की यह काव्य पंक्तियाँ इसी और इंगित करती हैं यथा

अगर इस बिगडैल हवाको
जमीन में बो दिया जाता।
गाड दिया जाता।
तो पता होती इसे उगने की तकलीफ
और जीवन की सारी दिक्कतें
तब जानती यह हवा कि मुस्काने का मतलब
मर जाना नहीं है।”^२

ज्यादा से ज्यादा जानने, मनोरंजन प्राप्त करने की अंधी दौड़ में हम भूल गए हैं कि हमारा माहौल बदल रहा है। काया कल्प हो रहा है, सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहा है। आज हम भारतीय की बजाय विदेशी कहलाने में ज्यादा गौरव महसूस करने लगे हैं। हम झूठे मोहजाल में फँसकर उपभोक्तावादी बाजार पर इतने निर्भर हो चुके हैं कि अब न हमारा मन पर अधिकार रहा है न तन पर। मन जो देखेगा वहीं मानेगा और तन उसे ही अपनाएगा। आज मीडिया तय करता है कि क्या खाना चाहिए, पीना चाहिए, पहनना चाहिए। मीडिया के झाल ने व्यक्ति की नीजि बुद्धि को मार दीया है। इसे ही अस्मिता का विनाश कहते हैं। आज मीडिया प्रबंधन विश्ववाजार प्रबंधन में एक ओपन स्पेश मार्केटिंग की परिभाषा को नए अर्थों में देखने का एक अलग विश्व का चित्र खडा करता है हम समझ सकते हैं कि इस तरह के चित्र खडा होने से दूरगामी अर्थ कितने गहरे तथा संभावनाएँ कितनी भयानक होगी। धीरे धीरे यह मानव के भीतर विष घौलता हुआ समुची संस्कृति को भी विषाक्त करता जा रहा है। हिन्दी कवि की वह पंक्तियाँ शायद इसी बात कि स्पष्ट कर रही हैं

जन जन के गालों पर रेंग गया विषधर सा
कहीं-कहीं चाट गया
कहीं-कहीं काट गया
सूजा है पूरा मुखमण्डल
रोगग्रस्त संस्कृति का
दयनीय देश का समाज का
लंगडे लोकतंत्र का
लोलुप भोगतंत्र का।”^३

भारत में उपभोक्तावाद की जो जोरदार आँधी आई, उसके पीछे प्रभुत्व की बाजारवादी नवउदारकृत नीतियों को फैलाने में मीडियाने महत्वपूर्ण भूमिका

निभाई। प्रिंट मीडिया के बाद इलेक्ट्रॉनिक मीडिया –इन्टरनेट, कम्प्यूटर टेक्नोलॉजी ने उपभोक्ता वस्तुओं का बाजार खड़ा करके चेतन व अवचेतन मन पर हावी हो गया। विज्ञापनों की चकाचौंध हमारा अनुकूलन कर रही है। यह केवल एक आदमी को नहीं समूची समाज व्यवस्था को दबाने का काम भी कर रहा है। बाजारवाद उपभोक्तावाद के माध्यम से काम करता है। उपभोक्तावाद का अर्थ है मनुष्य को भोगवादी बनाना। उसकी इच्छाओं को बढ़ाना पहले मनुष्य में एक संतुष्टि, संयम, त्याग का भाव हुआ करता था जिसे संस्कार कहते हैं। हर व्यक्ति को जीवन के कुछ मूल्य व आदर्श हुआ करते थे। अपने सिद्धांतों के साथ दगा नहीं करता था। अपनी हैसियत से जीवन जीना जानता था। आज मीडिया के झरिए बाजारवाद में न वह नैतिकता रही न मूल्य। अपनी भोगवृत्ति की संतुष्टि के लिए पति अपनी पत्नी को बाजार में बेच सकता है। पिता अपनी बेटी का नंगा नाच देख सकता है। पास में पैसा न हो तो भी ऋण लेकर के अपने सपने पूरे करो। मीडिया के झरिए वह अपना मायाजाल फैलाता जा रहा है। बाजारवाद का एक ही लक्ष्य है कि तीसरी दुनिया को अपना निसाना बनाकर सस्ती श्रमशक्ति द्वारा अधिकाधिक मुनाफा कमाकर, प्राकृतिक संसाधनों की तबाही कर, कच्चे माको सस्ते में खरीदकर फलों कंपनी का लेबल लगाकर बाजार में मूँहमाँगा दाम कमाया जाय और अर्थव्यवस्था को तोड़ा जाय। बहुराष्ट्रीय कंपनियों को प्रश्न करने के लिए, उनका रास्ता साफ करने के लिए राज्य भी सबकुछ कर रहा है। इससे हमारी सभ्यता और संस्कृति मीट रही है। प्रकृति और पर्यावरण भी तबाही की ओर जा रहे हैं।

टी.वी. मोबाईल ई-चैट बगैरह में ज्यादातर व्यस्त पाई जानेवाली नयी पीढी की वाक् कला को तो मीडिया ने जैसे खत्म ही कर डाला है। चौबीसों घण्टे मोबाईल पर लगे दो दोस्त जब आमने-सामने आते हैं तो १० मिनट से ज्यादा एक दूसरे से बात नहीं कर सकते। मीडिया में ट्वीट करके अन्याय के खिलाफ लिखनेवाले यथार्थ में एक शब्द भी नहीं बोल सकते।

गाँव भी मीडिया की चपेट में आ गए हैं। आज जिस प्रकार भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में अचानक से बाजारवाद घूसा है उससे किसानों, दस्तकारों, शिल्पियों, कूटीर धंधो का अस्तित्व खतरे में हैं। किसान कृषि का धंधा छोड़कर मजदूरी करने लगे हैं। यदि इस तरह के खतरों को न रोका गया तो समूचे भारतीय कृषि क्षेत्र पर भी बाजारवादी शक्तियों का आधिपत्य हो जायेगा। अगर गाँव बिखरेंगे तो संस्कृति की नींव नहीं बचेगी यह वास्तविक सत्य है। आज मीडिया में भी आपस में प्रतिस्पर्धा चल रही है। आम तौर पर माध्यमों को सदस्यता शुल्क और बिक्री के जरिए आमदनी होती है। इनमें भी खासकर वित्तीय और व्यापारिक जगत से आय होती है। जिसका आमतौर पर माध्यम साहित्य में जिक्र ही नहीं होता। भारत में टेलिविज़न फिल्म, विज्ञापन, आदि के क्षेत्रों में विदेशी पूंजी के आने से इजारेदारी खत्म हो जाएगी। हकीकत यह है कि माध्यम प्रवाह पर सात बड़े औद्योगिक राष्ट्रों की बहुराष्ट्रीय कंपनियों का साम्राज्य है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने बेशुमार निवेश और विश्वबाजार पर अवैध अधिकार के जरिए माध्यम असंतुलन पैदा कर दिया है।

आज अधिकतर मध्यमवर्गीय और निम्न मध्यमवर्गीय घरों में टी.वी. और उपग्रह टेलिविज़न के कार्यक्रम देखे जा रहे हैं। इससे जो सांस्कृतिक बोध और राजनीतिक बोध पैदा हो रहा है उसका जमीनी वास्तविकता से कोई

सम्बन्ध नहीं है। इससे जो फैशन परस्त व षडयंत्रकारी मानसिक विश्वदृष्टि बन रही है उससे हमारी संस्कृति से कोई लेना देना नहीं है। ज्यादातर चैनल नियम का पालन न करके विज्ञापन तथा अन्य धारावाहिक एसे प्रस्तुत करते हैं कि इससे सिर्फ कूडहपन ही झलकता है। विज्ञापन रणनीति का एक तत्व यह भी होता है कि वह ग्राहक की आवश्यकता को दुर्बोधता में बदल देता है। ज्यादातर विज्ञापन कामेच्छ से अपनी कुंठाओं से मुक्ति का स्वप्न पैदा करता है। जब व्यक्ति इन चक्रव्यूह में एक बार दाखिल हो जाता है तो वह उससे सारा जीवन कभी बाहर नहीं निकल पाता। मीडिया के जरिए वस्तुओं का चक्रव्यूह चारों तरफ से जन समुदाय को अपने में उलझा देती हैं। विज्ञापन में दिखाये जाने वाले युवामन की इमेज का प्रयोग करके, भुभावनायन व आकर्षक पैदा करके, उन्हें खुश हमी का शिकार बनाते हैं। युवावर्ग अंधानुकरण करते हैं और संपत्ति कमाते हैं मीडिया के माध्यम इसे से नतो संस्कृति की निर्मिति होती है, न समाज का भला। युवावर्ग की इस मीडियाई स्थिति की दयनियता को यश मालवीय ने शब्द दिये हैं यथा-

“कानों में इयर फोन
कैसा है स्वागत कथन ?
नया दौर, नया चलन
कदम, कदम मोबाईल
ठौर-ठौर तनहाई
साँस-साँस समझौता
कौर-कौर मंहगाई
दुनिया है दहशत में
आँखों के आगे ही
सपने सारे हलाक...।”^४

राजनीतिक चालबाजों के हाथों मीडिया की डोर है। चुनावों में वे मीडिया के माध्यम से जनता को सम्पर्क में बनाये रखना वे अच्छी तरह से जानते हैं। चुनावों में मीडिया की भूमिका अत्यंत निराशाजनक रहती है। राजनेताओं और आम मतदाताओं को एक विशिष्ट दिखावे में रूपकर वे सारांश में यही बताना चाहते हैं कि लोकतंत्र बेकार की चीज है। सभी सरकारें निकम्मी, संसद बेकार, नेता भ्रष्ट, अधिकारी बेईमान, टहनाब आयोग निष्पक्ष नहीं, न्यायपालिका पक्षपाती है- यही मीडिया को थीम हीत है। यह उसका दायित्व नहीं है। एसा करने से कम पढा लिखा वर्ग आम जनता उपर्युक्त किसी में से आस्था नहीं रख पाती और इसी वजह से समाज में विश्वास, दया, करुणा, मदद के गुण विकसित नहीं होते। फलतः संस्कृति चरमरा जाती है। क्या मीडिया संस्कृति की दुश्मन है? स्वतंत्रता, समता तथा बंधुता का महत्त्व कुछ नहीं? बहुत से एसे सवाल हैं जो मीडिया की भूमिका को लेकर चिंता का माहोल बनाती हैं। इसे न तो समाज संस्कृति का भला होगा, न ही मीडिया का भविष्य उज्ज्वल रहेगा।

आवश्यकता ही आविष्कार की जननी होती है, मगर आज हाल यह है कि पहले आविष्कार हो जाते हैं और बाद में इन्हीं मीडिया के माध्यम से आवश्यकता खड़ी कर दी जाती है। हाल ही में एसी कई घटनाएँ भी हुईं जिनके प्रति मीडिया को जितनी हमदर्दी दिखानी चाहिए थी वह उनकी न

दिखाई और अपना विवेक खोकर सिर्फ टी.आर.पी. की चिंता में अपने ही स्तर को गिरा रहा है। संक्षेप में हर तरह से देखा जाए तो मीडिया आज अपना दायित्व भूल गया है। इसकी बाजारीकरण व उपभोक्तावादी प्रकृति व प्रवृत्ति के कारण समूची मानवीय व अन्य जीव सृष्टि व संस्कृति पर विनाश के बादल मँडरा रहे हैं। आज हर रिश्ता मतलब का हर संबंध शक का शिकार हो गया है। जब मनुष्य मनुष्य के बीच दुरिया बढेगी तो फिर संस्कृति किसके आधार पर आगे बढेगी। मीडिया पर जितने सवाल उठे हैं, उसका तुरंत हल खोजना भी हम जैसे नागरिकों का ही कर्तव्य है। क्योंकि हम ही वास्तविकताओं, सत्यता को, सार्थकता को, जरूरतों को, चिंताओं को, आकुलता-व्याकूलताओं जानते हैं। अतः हम ही इससे उसके सही मायनों में समझ सकते हैं। मीडिया की भूमिका को सीमाओं में हम ही बांध सकते हैं यथा-

हम लडेंगे,
हम लडेंगे कि-लडने से ही दुनिया बदलती है।
हकीकते क्या है, वास्तविकताएँ क्या हैं,
सच्चाईयाँ क्या है ?
दुहरावों की सत्यता, जरूरतों की सार्थकता,
जनगण की तकलीफें, मुश्किलें, उलझनें, मुशीबतें,
क्रूरताएँ, बर्बरताएँ, चिंताँ-व्यग्रता-आकुलताएँ,
विफलताएँ... खूब खूब सताती है।
हमें सबकुछ जीवनसार, जीवनधार अनिवार्यताएँ
सिखलाती है कि-
हम तमाम मुशीबतों को, उलझनों को हल कर सकें।
बेहतर जीवन और खूबसूरत मनुष्यता की रौनकें सजाये...
हर जन-संगठन, हर उपकरण-अपनी शर्त, अफने मसौदे।
अपनी प्रतिबद्धता
अपने हित साधकर
जोर जुट लडेंगे।
हम लडेंगे,
कि लडने से ही दुनिया बदलती है।”^५

सन्दर्भ सूचि

1. ईश्वर की अध्यक्षता में- लीलाधर जगूडी, पृ. १३, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-१९९९
2. घबराये हुए शब्द-लीलाधर जगूडी-पृ.७७, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-१९८२
3. वर्तमान साहित्य, (साहित्यिक पत्रिका), अक्टूबर-२००४, पृ. २७, संपादक, नमिता सिंह, दिल्ली
4. वही, जनवरी-२०१३, पृ. ११, सं. नमिता सिंह
5. वही, नवम्बर-२०१३, पृ. ६०, सं.- नमिता सिंह